तेरी–मेरी सबकी बात

पेरुमल मुरूगन : धार्मिक कट्टरता क्या साहित्य को अवरुद्ध कर रही है !

एक संवेदनशील लेखक जो सांस्कृतिक रूप से सजग हो, अपनी मिट्टी से जुड़ा हो, सरोकारों के लिये प्रतिबद्ध उन्हें अपने लेखन का आधार बना रहा हो, वह अपनी मृत्यु की घोषणा करे – यह न सिर्फ दुखद है बल्कि चिंतनीय भी है। पेरुमल मुरूगन तमिल के ख्यात लेखक हैं। तमिल भाषा और साहित्य के प्रोफ़ेसर भी हैं। उन्हें एक प्रेस कांफ्रेंस में घोषणा करनी पड़ी कि–लेखक पेरुमल मुरूगन मर चुका है। वह ईश्वर नहीं है कि उसका नया पुनर्जन्म हो। वह अवतारवाद में विश्वास भी नहीं करता। अब केवल शिक्षक पेरुमल मुरूगन जिन्दा रहेगा।

लोक–संस्कृति के अध्येता और शोधकर्ता के अलावा तमिल भाषा और साहित्य के विद्वान व उपन्यासकार के रूप में पी. मुरूगन की यह घोषणा हतप्रभ करती है और न केवल साहित्य के पठन–पाठन वाले प्रबुद्ध वर्ग बल्कि लोकतांत्रिक समाज के अन्य लोगों के सामने भी अनेक सवाल प्रस्तुत करती है।

पेरूमल मुरूगन का उपन्यास 'मादोरुभागन' (अर्धनारीश्वर) जो 2010 में छपा, उसका अंग्रेजी अनुवाद 'वन पार्ट वुमन' अनिरुद्धन वासुदेवन द्वारा किया गया जिसे पेनगुइन ने छापा। आरोप है कि इसमें भगवान शिव को गलत रूप में चित्रित किया गया है और वह धार्मिक आस्था के आहत करता है। इसके विरुद्ध पिछले लंबे समय तक हिन्दूवादी राजनीतिक दल और कुछ जातिवादी संगठन के लोग लगातार लेखक के विरुद्ध प्रदर्शन करते रहे थे और उसको गिरफ्तार कर सज़ा देने की मांग कर रहे थे। अखबारों में छपी रिपोर्टों के अनुसार वहां के जिलाधिकारी ने लेखक से माफी मांगने को कहा और निर्देश दिया कि भविष्य में वे ऐसा कुछ नहीं लिखेंगे। यह स्थिति सचमुच अपमानजनक थी इसीलिये अपनी 'मृत्यु' की घोषणा के साथ लेखक मुरूगन को यह आश्वासन भी देना पड़ा कि–वह उपन्यास की अपनी अनबिकी प्रतियां वापिस मंगा लेंगे और प्रकाशक की भरपाई अपनी ओर से करेंगे। साथ ही अपने पाठकों से अनुरोध किया कि वे भी उस उपन्यास की प्रति जो उनके पास हो, उसे जलाकर नष्ट कर दें।

वर्तमान राजनीति के दौर में जैसा सामाजिक वातावरण निर्मित किया जा रहा है कि धर्म तथा आस्था के नाम पर कोई भी खड़ा होकर कुछ भी कह सकता है, यह साहित्य, कला और संस्कृति के लिये एक गंभीर समस्या का रूप ले रहा है। यहां बात सिर्फ 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' की नहीं है। मुरूगन के प्रकरण को 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' वाली बहस से जोड़कर साहित्य, संस्कृति और कला रूपों के निर्माण और उनके संरक्षण के सवाल को उलझाने की कोशिश लगातार की जा रही है। वैश्विक स्तर पर खासतौर से 'शार्ली हैब्दो' प्रकरण के बाद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पूरी दुनिया में एक बहस का विषय बन गयी है। मुरूगन के उपन्यास की विषय वस्तु और प्रस्तुति को शार्ली हैब्दो के समकक्ष रखकर बहस नहीं की जा सकती है। शार्ली हैब्दो प्रकरण में दुनियाँ के मुस्लिम समाजों के अलावा भी विश्व जनमत स्पष्ट से दो हिस्सों में बंटा हुआ लगा। इस प्रकरण में सीधे पैगंबर का कार्टून बनाकर मजाक बनाया गया। इसके विपरीत मुरूगन अपने उपन्यास में उस क्षेत्र विशेष की संस्कृति, परंपराओं और धार्मिक रीतिरिवाजों का चित्रण करते हैं और उस परिदृश्य में एक स्त्री के त्रासद जीवन की गाथा कहते हैं।

मुरूगन किसी भी रूप में धार्मिक आस्था पर चोट नहीं करते। समाज में व्याप्त किसी ऐसी प्रथा का, अंधविश्वास का जिसने लोगों का जीवन नष्ट किया, उनको त्रासद स्थितियों में पहुंचाया, उस पर लिखना या बात करना आस्था पर संकट नहीं कहलाता। तिरुचेंगोडु का पहाड़ी क्षेत्र जो मंदिरों के लिये जाना जाता है, उस क्षेत्र की लोक संस्कृति का अध्ययन करते हुए उनको वहां के जनजातीय जीवन के बारे में अनेक नयी जानकारियां मिलीं। एन. कल्याण रमन इस विषय पर तथा पी. मुरूगन के 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास पर पहले भी 'कारवां' पत्रिका के

दिसंबर 2013 के अंक में लेख लिख चुके हैं। उस समय इस उपन्यास पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सन् 2010 में जब तमिल में यह उपन्यास छपा, उस समय भी ऐसा कोई आंदोलन या विरोध नहीं हुआ। ज़ाहिर है वह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति का, सत्ता की राजनीति की जरूरत का समय नहीं था। अब हालात बदले हैं। सत्ता परिवर्तन के साथ धार्मिक आस्था के रथ पर आरूढ़ होकर राजनीति करने वालों के हौसले बढ़े हैं, इसलिये लगभग चार साल बाद यह उपन्यास प्रकरण विवादों में लाया गया है।

तिरुचेंगुडु में अनेक देवी–देवताओं के मंदिरों के अलावा अर्धनारीश्वर के रूप में वहाँ संभवतः देश का अकेला शिव मंदिर है। शिव के अर्धनारीश्वर का मिथक हिन्दू समाज में बहुत प्रचलित है जहां शिव के बांये भाग में पार्वती का रूप दर्शाया जाता है। कहा जाता है कि वहाँ की लोक–संस्कृति और जनजीवन का अध्ययन करते हुए मुरूगन के संज्ञान में एक तथ्य आया जिसने उन्हें हैरान किया। वहां कुछेक पचास या उससे भी अधिक आयु के ऐसे वृद्ध थे जो 'सामी पिल्लई' अर्थात् ईश्वर–पुत्र कहलाते थे। इस ओर अधिक छानबीन करने पर उनको अन्य अनेक जानकारियां मिलीं उसके अनुसार एक प्रथा लगभग पचास वर्ष पहले तक भी उस जनजातीय क्षेत्र में जीवित थी। जिसके अनुसार संतानहीन स्त्रियां हर वर्ष आयोजित होने वाले, देवता की रथयात्रा उत्सव के दौरान वहां जाकर किसी भी अजनबी के साथ संबंध स्थापित कर सकती थीं। इस धार्मिक उत्सव के समय अजनबी से संबंध होने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न संतान को समाज मान्यता देता था और साथ ही उसे ईश्वरीय वरदान समझकर परिवार भी उसे स्वीकार करता था क्योंकि उत्सव के दौरान संतान की इच्छा रखने वाली स्त्री को मिलने वाला वह पुरुष भी ईश्वरीय अवतार के रूप में समझा जाता था।

मुरूगन ने इस विषय को स्त्री अस्मिता से जोड़कर देखा। दरअसल संतानहीनता यूं तो पूरे भारतीय समाज में न केवल स्त्री बल्कि पूरे परिवार के लिये अभिशाप के रूप में समझी जाती है। सामान्यतया संतानहीनता के साथ परिवार की विरासत का प्रश्न जुड़ा होता है। यह भी बताने की जरूरत नहीं कि भारतीय समाज में सामान्यतः संतान न होने का ठीकरा स्त्री के सिर पर ही फोड़ा जाता है और वह दोषी मानी जाती है। बिहार, झारखंड, उड़ीसा आदि राज्यों के पिछड़े इलाकों में संतानहीनता का ही अभिशाप है कि ऐसी स्त्रियां घर–परिवार, समाज की किसी भी दुर्घटना अथवा संकट का कारण समझी जाती हैं और उन्हें डायन करार देकर उनकी नृशंस हत्याओं के समाचार अक्सर पढ़ने को मिलते हैं। संतानहीनता के समाधान हेतु ही संभवतः उस क्षेत्र में ऐसी प्रथा प्रचलित हुई हो, ऐसा समझा जा सकता है।

मुरूगन इस उपन्यास में काली और उसकी पत्नी पोन्ना की संतानहीनता से उत्पन्न त्रासदी की कहानी कहते हैं। दोनों के बीच गहरा प्रेम और विश्वास भी स्थितियों से उपजी कटुता और भयावहता को कम नहीं कर पाता। परिवार वाले भी ऐसी स्थितियां निर्मित करने लगते हैं कि पोन्ना रथयात्रा उत्सव में जाकर अजनबी 'अवतार' से वरदान लेकर संतति प्राप्त करे। यूं संतति प्राप्त करने की ऐसी परंपरा का वर्णन हमारे धार्मिक ग्रंथों ने लगातार किया है। वैदिक संस्कृति में नियोग की परंपरा प्रचलन में थी। महाभारत ग्रंथ की शुरूआत ही इन प्रकरणों से होती है। हस्तिनापुर के महाराज शांतनु से विवाह के पूर्व सत्यवती के ऋषि पाराशर से उत्पन्न पुत्र ऋषि व्यास। तत्पश्चात् उनके पुत्र चित्रांगद की मृत्यु के बाद भाई विचित्रवीर्य की पत्नियां अंबिका और अंबालिका जो अपने पति की असमय मृत्यु के कारण निस्संतान थीं और तब ऋषि व्यास द्वारा पांडु और धृतराष्ट्र के अतिरिक्त दासी से पुत्र विदुर का जन्म। अब अगर पौराणिक आख्यान ही इतिहास का स्थान ले रहे हैं तो यह प्रमाण और कथाएं महाकाव्यात्मक ग्रंथ धार्मिक समझे जाने वाले महाभारत का ही अंग हैं।

हमारे लेखकों–साहित्यकारों ने बौद्धिकता के आग्रह के साथ सामाजिक दायित्व समझकर धार्मिक कर्मकांडों, अंधविश्वासों और मनुष्य के बीच भेद करने वाली, अमानवीय प्रथाओं का हमेशा विरोध किया। उन्नीसवीं सदी में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा का जबरदस्त विरोध किया तथा पुराणों–उपनिषदों में वर्णित धार्मिक आख्यानों को व्यक्तियों द्वारा

रचित ग्रंथ बताकर उनका उपहास भी किया। नवजागरण काल के सुधारवादी आंदोलनों ने स्त्री समानता की बात की तथा उसे मानवीय संवेदना प्रदान करते हुए बालविवाह तथा सती जैसी कुप्रथाओं जिसके कारण बड़ी संख्या में स्त्रियों और विशेषकर बालविधवाओं का जीवन नरक के समान होता था, आंदोलन चलाया जिसका उस समय बड़ी संख्या में हिन्दूवादियों ने विरोध किया और इंग्लैण्ड की महारानी तक पिटीशन भेजा। 1856 में विधवा विवाह को कानून सम्मत बनाने पर फिर होहल्ला मचा कि इससे हिन्दू स्त्रियां चरित्रहीन और पथभ्रष्ट हो जायेंगी तथा ये कानून हिन्दू धर्म की आस्था पर कुठाराघात है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्त्री शिक्षा के लिये बहुत काम किये तथा बाल विवाह का विरोध करते हुए विधवा विवाह का सक्रिय समर्थन किया। आर्य समाज के इन विचारों से प्रेरित होकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के शुरूआती दौर में अनेक उपन्यास लिखे गये जिनमें भाग्यवती (श्रद्धाराम फिल्लौरी) वामा शिक्षक (मुंशी ईश्वरी प्रसाद–कल्याण राय), देवरानी–जिठानी (गोपालराय गहमरी) विधवा विपत्ति (देवी प्रसाद शर्मा) आदि कुछेक नाम हैं। संकीर्ण विचारधारा के हिन्दूवादी समूहों को उस समय राजनैतिक संरक्षण नहीं मिला और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की उत्ताल लहरों के बीच समानता, स्वतंत्रता और भातृत्व की भावना के साथ सामाजिक न्याय और स्त्री तथा दलितों को बराबरी देना भी राष्ट्रीय आंदोलन के एजेंडा में सम्मिलित हो गया था।

नवजागरण काल में सुधारवादी आंदोलनों की शुरूआत ही बंगाल से हुई और इसका प्रबल ताप महाराष्ट्र में प्रार्थना सभा तो ब्रह्म समाज की तर्ज पर उत्तर भारत में आर्य समाज आंदोलन प्रखर हुआ। बंगाल में यंग बंगाल मूवमेंट में पढ़े लिखे नयी सोच के युवा लेखक–संस्कृति कर्मी थे और वे लेखक–अध्यापक हेनरी डेरोज़ियो के साथ थे। माइकल मधुसूदन दत्त जैसे उस समय के अनेक लेखक अपनी तरह से समाज–साहित्य और कलाओं के अंतःसंबंधों को देख रहे थे और नयी रचनाएं दे रहे थे। बंगाल के लेखकों और संस्कृति कर्मियों पर इसका गहरा प्रभाव था। मुझे अपने बचपन में अनेक बंगला नाटकों (के हिंदी अनुवादों) को पढ़ने का मौका मिला। मेरे पिता नाटकों के प्रेमी थे। वे मंचन करवाते थे और कभी–कभी स्वयं अभिनय भी करते थे। बंगला नाटकों की विषय वस्तु और प्रस्तुतीकरण से प्रभावित वे लखनऊ के बंगाली क्लब के सदस्य थे। वहां की लाइब्रेरी से पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटकों के उन्होंने अनुवाद किये थे। वे पुस्तकें इतनी पुरानी और खस्ताहाल थीं कि उन्हें बहुत सावधानी से पढ़ना होता था। मैं छठी–सातवीं में पढ़ती थी और उनकी सहायक थी। वे पढ़ते हुए, सोचते रहते–बोलते रहते और मैं लंबे–लंबे रजिस्टरों में लिखती रहती। द्विजेंद्रनाथ राय के अनेक नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया। आज भी मेरे हाथ के लिखे अनुवादित नाटकों की पांडुलिपि रखी हुई है। उनके सबसे पसंदीदा नाटक 'सीता' और 'सरमा' थे। दोनों ही नाटकों में रामायण के पात्र पूर्ण मानवीय चरित्र हैं और सहज मानवीय दुर्बलताओं और गुणों से परिपूरित हैं। 'सीता' नाटक में राम को सीता और लक्ष्मण के सम्मुख एक कमजोर चरित्र के रूप में चित्रित किया गया है जो संभवतः बाल्मीकि रामायण तथा अन्य राम–कथाओं के प्रभाव से होगा। वे सीता के तर्कों के आगे निरूत्तर हैं। 'सरमा' में रावण, विभीषण की पत्नी सरमा और उसके पुत्र के बीच का द्वंद्व है जहाँ सरमा के साथ पुत्र भी अपने पिता विभीषण के कृत्य से लज्जित है और युद्ध भूमि में जाना चाहता है। रावण का द्वंद्व है कि यदि वह उसे युद्ध में जाने की आज्ञा नहीं देता तो विभीषण के पुत्र और उसकी माता को लगेगा कि वो उनकी ओर से आशंकित है। यदि युद्ध करने की आज्ञा दी और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ तो लोग कहेंगे कि भाई के. विश्वासघात का प्रतिशोध उस किशोर से लिया गया। नाटक में राम और रावण पूर्ण मानवीय हैं और रावण के उदात्त चरित्र के सामने राम महज एक राजनीति के कुशल खिलाड़ी के रूप में दिखाई देते हैं।

इन पुराने नाटकों को याद करके मैं सोच रही थी कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखे गये, मंचित किये गये ये नाटक जो बेहद लोकप्रिय भी हुए, अपने कालखंड की उदारता और कला–साहित्य के सहज वातावरण में सुरक्षित रहे तथा नाटककार ने इन पौराणिक आख्यानों को और उनके चरित्रों को नवजागरण काल की उदारवादी और मानववादी दृष्टि से प्रस्तुत किया।

बीसवीं सदी के मध्य में ही केरल की सुप्रसिद्ध लेखिका ललितांबिका अन्तर्जनम ने 'अग्नि साक्षी' लिखकर हलचल मचा दी। यह उपन्यास भी केरल के सबसे प्रतिष्ठित सामाजिक समूह के नंबूदिरी ब्राह्मणों में व्याप्त कुप्रथा पर आधारित था जो स्त्रियों की दुर्दशा और उनके प्रति सामाजिक संवेदनहीनता का एक नमूना था। लगभग एक सदी पूर्व नंबूदिरी ब्राह्मणों में केवल बड़े भाई को ही विवाह संस्कार का अधिकार था। परिवार के अन्य पुत्रों को पूरी छूट थी कि वे अन्य स्त्रियों से (जो अधिकतर नायर समुदाय से होती थीं) संबंध स्थापित कर लें और संतान उत्पन्न करें लेकिन न तो यह संबंध और न ही इन संतानों को सामाजिक मान्यता और कानूनी वैधता प्राप्त थी। इसलिये नम्बूदिरी पुरुषों और लड़कियों की वैवाहिक आयु का भी कोई बंधन नहीं था। अस्सी साल का वृद्ध बालकन्या से विवाह कर सकता था और कन्या का भी यह सौभाग्य माना जाता था।

केरल के इस समुदाय में किसी भी स्त्री के चरित्र पर संदेह होने की स्थिति में उसे परिवार से अलग कर उस पर पुरुष समूह द्वारा मुकद्मे जैसी प्रक्रिया, जिसे 'स्मार्त विचारम' कहा जाता, संपन्न की जाती थी और फिर अंत में उसका श्राद्धकर्म करके उसे मृतक घोषित कर दिया जाता था। अब यह स्त्री का भाग्य था कि वह जीवित रहे अथवा आश्रयहीनता की स्थिति में किसी न किसी रूप में मृत्यु को वरण करे। 1932 में केरल की इन कुलीन परिवारों की ब्राह्मण स्त्रियों की दयनीय स्थिति पर एक नाटक भी लिखा गया। इसी दुर्दशा के कारण स्वामी विवेकानंद ने केरल के समाज पर टिप्पणी करते हुए इसे 'हाउस ऑफ इनसेन' (पागलखाना) कहा था। यहाँ भी धार्मिक आस्था नहीं बल्कि धार्मिक परंपरा और रीतियों के कारण स्त्री की दुर्दशा थी जिस पर चोट की गयी थी। बाद में 'अग्निसाक्षी' जैसा ही एक अन्य उपन्यास 'भ्रष्ट' लिखा गया जिसके लेखक मदेम्बु कुंजीकुट्टन थे। एक अन्य उपन्यास 'जड़ें' के लेखक मलयत्तूर रामकृष्णनन ने भी मलयाली ब्राह्मण समाज की स्त्रियों की स्थिति और 'स्मार्त विचारम' जैसी अन्यायपूर्ण परंपरा पर चोट की। कुंजीकुट्टन के उपन्यास 'भ्रष्ट' की भी बहुत चर्चा हुई लेकिन इसके लेखक को गिरफ्तार करने की और सजा देने की मांग तब किसी ने नहीं की।

दरअसल बीसवीं शताब्दी के आठवें–नवें दशक से देश में सुनियोजित रूप से जातिगत और सांप्रदायिकता पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था ने जब से जगह बनानी शुरू की तभी से साहित्य–कला और संस्कृति के दायरे को, रचनात्मकता की धारा को बाधित करने की कोशिशें शुरू हो गयी हैं। कुछ वर्ष पहले मीरा नायर ने बनारस की विधवाओं की स्थिति पर 'वाटर' नाम की फ़िल्म बनानी चाही। उस समय भी हिन्दूवादी संगठनों ने इसका विरोध किया। ये विरोध भी हिंसक हो गया जिसके कारण फिल्म निर्माण का काम नहीं हुआ। शताब्दियों से लेकर अभी बीसवीं सदी तक विधवाओं को मथुरा, बनारस जैसे तीर्थों में बेसहारा छोड़ आने की परंपरा चलती रही है। 'भगवान' भरोसे छोड़ी गयी ये विधवाएँ किस तरह भीख माँगकर अमानवीय स्थितियों में रही हैं–इन पर अब तो कई रिपोर्टें आ चुकी हैं, कई अध्ययन हो चुके हैं। उन्नीसवीं–बीसवीं सदी के मध्य तक जब बाल–विवाह प्रचलन में था–तब बड़ी संख्या में ये बालविधवाएँ भी वैधव्य का अभिशाप भोगने के लिये अभिशप्त थीं। हिंदी के अलावा विशेष रूप से बंगला साहित्य में बाल विधवाओं के दारुण प्रकरण भरे हैं। दरअसल साहित्य समाज को आईना दिखाता है और उसमें अपनी परंपराओं का जब विकृत चेहरा दिखाई देता है तो लोग क्रोधित हो उठते हैं और पत्थर मार कर शीशा तोड़ देना चाहते हैं। हमारी धार्मिक मान्यताओं और परंपराओं में दलित समाज को पददलित करने के विविध रूप रहे हैं। केरल के ही समाज में दलित गले में जलते कोयले की हांडी और पीछे झाड़ू लटका कर चलते थे। दलित स्त्रियों को अपना कमर तक शरीर वस्त्रहीन रखना अनिवार्य था। वे पत्थरों की लंबी मालाओं से शरीर ढकने का प्रयास करती थीं। ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था में स्त्रियों और दलितों पर जो अन्याय हुऐ, अत्याचार हुए, उनकी बात करना अब अपराध माना जा रहा है। इतिहास को मिटाया नहीं जा सकता। इतिहास से सबक लिया जाता है और भविष्य के लिये रास्ता बनता है।

आज पहचान का संकट हर समुदाय के सम्मुख आ रहा है। पिछड़ी और पददलित जातियाँ जो सामाजिक अन्याय का शिकार रहीं, आज अस्मिता के संकट से जूझ रही हैं। हर समुदाय को अपना 'गौरवशाली' इतिहास चाहिये। जाने–अनजाने परंपरागत रूप से सामाजिक अन्याय का शिकार रहे समुदाय भी आज की अलगाववादी राजनीति का शिकार बन रहे हैं। जातिवादी मानसिकता का अंतिम परिणाम सांप्रदायिकता में रूपांतरण ही है। धार्मिकता की आड़ में ही संकीर्णतावादी संगठनों ने डॉ. नरेंद्र दाभोलकर की हत्या कर दी जो समाज में व्याप्त पाखंड और धर्म के नाम पर होने वाली अमानवीय प्रथाओं के विरुद्ध लोगों को जागरूक करना चाहते थे। जब अपने मंतव्यों के लिये बुद्धि के दरवाजे ही बंद कर दिये गये हों तो कैसे समझाया जा सकता है कि धार्मिकता और पाखंड में अंतर करना जरूरी है। लेकिन तर्क और बुद्धि का इस्तेमाल इसलिये नहीं होगा क्योंकि ऐसी घटनाओं और प्रकरणों के राजनैतिक मंतव्य होते हैं। धर्म और आस्था के नाम पर अशिक्षित, साधारण जन को भ्रमित कर बरगलाने की कोशिश होती है और राजनीति और सत्ता का खेल खेला जाता है। यह अफसोस की बात है कि विविध प्रयासों से शिक्षा का प्रसार हो रहा है लेकिन अंधविश्वास फिर से लोगों के दिमागों में जगह लेने लगे हैं। जब अंधविश्वास और आस्था के नाम पर तर्कहीनता–अवैज्ञानिकता राज्य और सत्ता द्वारा प्रायोजित हो तो कोई कहाँ जाकर न्याय मांगेगा। ऐसे माहौल में अच्छे भले समझदार लोग भी समयानुकूल अवसरवादिता में चुप हो जाते हैं या फिर प्रसारित ध्वनि के साथ ही सुर मिलाने लग पड़ते हैं।

पेरुमल मुरुगन को उनके उपन्यास 'अर्धनारीश्वर' के कारण जिस तरह प्रताड़ित किया गया कि उन्होंने अपनी मृत्यु की घोषणा कर दी और कहा कि अब वे कुछ नहीं लिखेंगे, इस घटना के बाद कम से कम बुद्धिजीवी और लेखक बिरादरी को तो आगे आना चाहिये जो साहित्य–कला और सांस्कृतिक परिवेश में छा रहे प्रच्छन्न अंधेरे को महसूस कर रहे हैं और लेखकीय रचनाशीलता पर हो रहे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष हमले से चिंतित हैं। भाषा और क्षेत्र की सीमाओं से परे यह पूरी लेखक बिरादरी की अस्मिता और कलम की आजादी का प्रश्न है, साहित्य, कला और संस्कृति की रचनाशीलता का प्रश्न है। आज मुरूगन हैं तो कल हमारी आपकी भी बारी होगी।

एम.आई.जी.–28
अवन्तिका–।
रामघाट रोड, अलीगढ़